: प्रथम अध्याय :

अस्तित्ववाद : स्वरूप एवं परिभाषाएँ।

(1) अस्तित्ववाद का स्वरूप ।

(2) अस्तित्ववाद की परिभाषाएँ ।

(3) अस्तित्ववाद : एक दृष्टिकोण ।

(4) अस्तित्ववाद की प्रवृत्तियाँ ।

(5) भारतीय साहित्य और अस्तित्ववादी धारा ।

: प्रथम अध्याय :

अस्तित्ववाद : स्वरूप एवं परिभाषाएँ।

आज भौतिक उपलब्धियों ने मानव को अशान्त बनाया है। मनुष्य क्या है? उसके जीवन के तौरतरीके कौनसे है? उसे अपनी आन्तरिक शक्तियों का उपयोग कैसे करना चाहिए? यह मनुष्य नहीं जानता। मनुष्य की ऐसी स्थिति में उसकी यथास्थिती क्या है? उसके जीने का प्रयोजन क्या है ? वह दूसरों से कैसे संबंध रखे ? ईश्वर का जीवन में क्या महत्व है ? इन सभी प्रश्नों पर सोचना एवं पुनर्विचार करना अत्यंत आवश्यक बन बैठा है। इन प्रश्नों की चुनौती को स्वीकार करने का काम अस्तित्ववाद करता है और अपने तरीके से वह ऐसी मानवी समस्याओं को सोचकर उसपर समाधान पाने की भी कोशिश करता है।

अस्तित्ववाद के प्रश्न ज्वलंत हैं, जो एक ओर मनुष्य के संकट को अभिव्यक्त करते हैं तथा स्वयं मानवीय स्थिति के अस्तित्ववादी प्रश्नोंको उजागर करते हैं। मनुष्य की उदासीनता को दूर कर उसकी आत्मीयता को जागृत करना और उसे स्वत्व के प्रति चेतित बनाना भी उनका उद्देश्य है। एक नये विश्लेषण की ओर मनुष्य को अभिमुख कराना भी अस्तित्ववाद का दूसरा प्रयोजन हो सकता है।

मनुष्य जब स्वचेतना पर अपने परिवेश के साथ अपने अस्तित्व का विचार करने लगता है तब वह अनुभव करता है कि वह परिवेश के साथ नहीं जुडा है। जब मनुष्य अपने सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवेश में देखता है और पाता है कि वह भयावह परिस्थितियों में अज्ञेय शक्तियों द्वारा फेंक दिया गया है। वह मानवसंकट का तथ्य है, फलत: एक प्रकार की असुरक्षितता, विछिन्नता और अलगाव की मन:स्थिति में डूब जाता है। अस्तित्ववाद में मानव संकट के लिए अलगाव तथा विछिन्नता की भावना रहती है। अस्तित्ववादी दर्शन मानव पर छाये हुए संकटों के चिन्तन में अधिक विकसित होकर उसने मानवीय जीवन में गंभीर समस्या का नये दृष्टिकोण से चिन्तन किया है।

जीवन की मूलभूत समस्याओं को उठाने का प्रयत्न अस्तित्ववादी विचारकों ने किया है। इन विचारकों ने परंपरागत दार्शनिक चिन्तकों का आतंक न मानकर केवल अपनी वैयक्तिक प्रतिभा, चिन्तनक्षमता और परिस्थितियों के बीच जिन्दा वैचारिक संघर्ष को उठाया है। इसमें जीवन की सार्थकता का मूलगामी चिन्तन नजर आता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के आसपास इस चिंतन में कुछ व्यवस्था दिखायी देने लगी। वैज्ञानिक विकास के बल

पर मनुष्य ने भौतिक सुविधाएँ हासिल की। भौतिक क्षमताओं का अभूतपूर्व विकास किया और मनुष्य भौतिकता का ही गुलाम बन गया। इस असंगति ने अस्तित्ववादी चिन्तकों को गहराई से सोचने के लिए बाध्य किया और अस्तित्ववाद आधुनिक युग का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक वाद बन बैठा। इस वाद में जीवन के प्रति व्यक्तिपरक दृष्टि है, परन्तु इसमें व्यक्ति के उत्तरदायित्व को, समाजचेतना को, नकारा नहीं गया है। आज की स्थिति में मनुष्य के लिए मुख्य प्रश्न विश्व का नहीं तो केवल अपने अस्तित्व का ही है। दूसरे महायुद्ध के बाद नैतिक विफलता और सांस्कृतिक विनाश के बोध ने अस्तित्ववाद को अधिक तीव्र बनाया। आज मानवसमाज की द्वंद्वगत स्थिति में अस्तित्ववाद का काफी महत्त्व है। आज का मानव नये-पुराने विचारों के दर्शन के आघात सह रहा है। रोजमर्रा के जीवन में मेहनत उठाते हुए संभवनीय महायुद्ध के डर से भयभीत है। कुछ लोग गीतापाठ एवं आत्मसाक्षात्कार के लिए प्रयत्न कर रहे हैं तो कुछ लोग स्वयं को नीच समझकर उदास नजर आ रहे हैं। इस भयावह, बीभत्स और डरावनी स्थिति में आज का मानव चिंतित है और इसे समझाने के लिए अस्तित्ववाद का दार्शनिक महत्व है।

डॉ. वाय. बी. धुमाल के मतानुसार, "अस्तित्ववादी दर्शन मानव को अपनानेवाला है। मानव की संत्रस्तता में से ही उसकी निर्मिती हुआी है। इसके पीछे ज्ञानमीमांसा है। अस्तित्ववाद मानव को अपने बारे में ज्ञान करा देनेवाला, नये नीति-विचारों की मानव को प्रवृत्त करानेवाला एक दार्शनिक चिन्तन है। यह एक यांत्रिक भौतिकवाद है और प्रकृतवाद के विरूद्ध घटित होनेवाली एक सशक्त वैचारिक प्रतिक्रिया है। अस्तित्ववादी चिंतक मूल्यों की बात करते हैं। वे समाजवाद, सामंतवाद, पूँजीवाद के विद्रोही होते हैं। आज की भ्रष्टाचारपूर्ण एवं अराजकतापूर्ण स्थिति में अस्तित्ववाद का क्रान्तिकारी स्वरूप समझ लेना आवश्यक है।"[1]

अस्तित्ववादी चिंतनधारा मूलरूपमें पाश्चात्य चिंतनधारा है। दूसरे महायुद्ध से पूर्व और पश्चात् इस विचारधारा ने औद्योगिक संस्कृति के विकास के परिणामस्वरूप गहन निराशा, आत्मपीडा, कुण्ठा, संत्रास और दिशाहीन मानसिकता को जन्म दिया। साहित्य में अस्तित्ववाद की अवधारणा मानवीय यथार्थ और परिस्थिती के विश्लेषण से आरंभ होती है।

"प्रत्येक व्यक्ति के अन्तस् में जो एक दुर्दान्त और खूनी भेडिया बैठा है, जो अपनी सफलता के लिए दूसरों को मौत के घाट उतारने में भी हिचकिचाता नहीं।" [2]

साहित्य में अस्तित्ववाद को लानेवाले साहित्यकार वर्तमान स्थितियों की विकरालता को समझते

हैं क्यों कि, ऐसी आसन्न स्थिति में उनके चुप बैठने का मतलब हुआ, मानव अस्तित्व में जो रही-सही संभावनाएँ हैं, उनको नष्ट कर देना। "संकट या संक्रमण की स्थिति में से गुजरती हुओ मानवीय चेतना उन प्रश्नों का समाधान ढूँढने की कोशिश करती है, जो मनुष्य के अस्तित्व की संभावना और उसके वर्तमान रूपों से संबंधित है।"[3]

सार्त्र ने अस्तित्ववादी को नया नैतिक धरातल प्रदान किया है। उसने स्वतंत्रता के प्रश्न को एक मानवीय प्रश्न बनाया है। उस प्रश्न को समाज के संगठनात्मक ढ़ाँचे के भीतर बिठलाने का प्रयत्न किया। "सार्त्र मनुष्य की इयत्ता को ही अस्तित्व का केन्द्रबिंदु मानता है। वह वर्तमान विघटनकारी परिस्थितियों के लिए औद्योगिक सभ्यता को उत्तरदायी ठहराता है।"[4]

स्वतंत्रता की भावना को मानवजाति का अधिकार मान लेने के बाद ही अस्तित्ववादी विचारधारा या दर्शन के चिंतन का मार्गक्रमण होता है। यह भावना ही मानवजीवन की सभी संभावनाओं को प्रत्येक मानव के लिए सुलभ कर देती है। अल्जीरिया के मुक्तिसंघर्ष के दौरान अस्तित्ववादी चिंतक सार्त्र और 'आल्वेयर कामू' के बीच 'मानवजीवन में, अस्तित्ववाद में समाविष्ट स्वतंत्रता की धारणा' यह विषय मतभेद का विषय बन गया, जिसे सार्त्र ने सर्वथा अपने नये दृष्टिकोन से प्रस्तुत किया कि, "स्वतंत्रता और राष्ट्रीयता सुनिश्चित मानवीय मूल्य हैं और इन्हें सीमित नहीं किया जा सकता।"[5] तात्पर्य, सार्त्र को कहना यह था कि फ्रान्स की जनता के लिए स्वतंत्रता का जो अर्थ है, वही अर्थ या आशय अल्जीरिया के निवासियों के लिए है। अगर हम अपनी स्वतंत्रता के प्रेमी हैं तो हमें दूसरों की स्वतंत्रता के प्रति अवश्य जागरूक होना चाहिए क्योंकि यही राष्ट्रीयता भी है। सारांश, सार्त्र ने अपने इस दृष्टिकोण में राष्ट्रीयता और स्वतंत्रता के मूल्यों को एक ही माना। लगभग देखा जाए तो सभी अस्तित्ववादी विचारकों का परिस्थितियों की नियंत्रणकारी भूमिका के बारे में समान दृष्टिकोण दिखायी देता है। वे यह बात मानते हैं कि, समाज, धर्म, राजनीति और संस्कृति ही मानवीय संकट के कारण हैं।

वास्तव में, पिछली दो शताब्दियों से मानव का अस्तित्व संकट के जिस दौर से गुजर रहा है, उसमें मनुष्य के लिए अपने अस्तित्व का प्रश्न मूल बन गया है। स्वतंत्रता के पश्चात् मानव की वैयक्तिकता की ओर बढ़नेवाली प्रवृत्ति को लक्ष्य कर इस दर्शन के संबंध में दार्शनिकों के विचारों को जहन में रखकर कुछ विशेष तत्वों का उल्लेख अथवा उनके समावेश को स्वीकार किया है। डॉ. रामलखन शुक्ल के विचार में, "अस्तित्ववाद का चरम विकास दो महायुद्धों की विभिषिकामयी स्थिति में हुआ। यहीं कारण है कि, उसमें विवशता और नैराश्य का

स्वर मुखर है। मृत्यु की अनिवार्यता के कारण मानव के अमानवीय एवं स्थिति का अत्यंत मार्मिक विवेचन है। मनुष्य अस्तित्व मृत्युन्मुख है।"[6]

1. अस्तित्ववाद का स्वरूप :-

दो महायुद्धों के दौरान मानवजाति का अस्तित्व धोखे में आ गया। मानवीय अस्तित्व पर मृत्यु की छाया मँडराने लगी, इस आशंका से निर्मित भय, संत्रास, पीडा, निराश ये अस्तित्ववादी चिंतन के मुख्य तत्व बन गये। अस्तित्व का प्रेमी व्यक्ति सामाजिक और राजनीतिक उपलब्धियों से मिलनेवाली सुविधाओं एवं सुखों पर विश्वास न कर पीडा और दु:ख पर ही विश्वास करने लगा है। परिणामस्वरूप ये दु:ख की स्थितियाँ ही उसमें अस्तित्व की भावना जगाने लगीं। डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त के विचारानुसार, "पीड़ा के आधार पर ही अस्तित्ववादियों का पीडा-दर्शन आधारित है क्योंकि, पीडा ही अस्तित्वबोध की साधिका है।"[7]

डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त ने पीडा को ही अस्तित्व की आधारशीला या सर्वस्व माना तो डॉ. शशिभूषण सिंहल ने इसका स्वरूप बताते समय तटस्थता की अनुभूति चेतनाद्वारा पाना चाहता है और इस प्रक्रिया में उसकी दृष्टि असंलग्न निरपेक्षद्रष्टा मात्र की न रहकर जीवन में भोक्ता, अभिनेता की दृष्टि है। वह जीवन जीता है और साथ ही उससे तटस्थ रहकर, उसके अर्थ पाता चलता है।"[8]

इन विद्वानों में से डॉ. लक्ष्मीकांत सिन्हा ने इसे घोर व्यक्तिवादी दर्शन माना है। डॉ. महाबीरमल लोढ़ा ने भी उनके इस मत का समर्थन किया है। डॉ. लक्ष्मीकांत सिन्हा के मतानुसार, "अस्तित्ववादी सत्य अनुभूतियों से उठनेवाली जिज्ञासाओं से निर्मित होता है। अकेलापन, विशृंखल एकान्त, अनाश्वासन, आसन्न अन्त की चेतना, पृथक किये जाने की चेतना, त्रास, मृत्यु के निकट जीवन (बल्कि क्षण-क्षण मृत्यु का भय), जिज्ञासा करने की विवशता, व्यवस्थित सत्य का अभाव, द्वंद्व, मानसिक पीडा, रोग, दुर्गन्ध, मत्सर, पर-पीडन, दु:ख, नास्तिक दर्शन, ईश्वर, धर्म, अमरत्व आदि के प्रति अनास्था, सभी अजनबी, सबकुछ क्षणिक, क्षण ही यथार्थ, सत्य, अनिश्चय ही यथार्थ सत्य आदि अवसादमय उपकरण अस्तित्ववादी व्यक्तित्व की चेतना के प्रवाह में रहते हैं।"[9]

इस प्रकार विचारकों के मतों द्वारा अस्तित्ववादी दर्शन के जो तत्व हमारे सामने आते हैं वे इस बात पर प्रकाश डालते हैं कि, अस्तित्वप्रेमी के लिए मृत्यु का भय, उससे बनी घोर निराशा जो उसमें जिज्ञासा तो

निर्माण करती ही हैं बल्कि वह मनुष्य स्वार्थी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर स्वयं का अस्तित्व बचाने के लिए पर-पीडन में आनंद की अनुभूति करता हुआ एकाकीपन में दूसरों से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। ऐसे हालात में उसे अपने जीवन में क्षण-क्षण का बहुत महत्त्व महसूस होता है। इस मन:स्थिति में वह ईश्वर, स्वर्ग-नरक आदि के बारे में जिज्ञासायुक्त अपने निर्णय देता है।

डॉ. जगदीशप्रसाद मिश्र जो भारतीय अस्तित्ववादी विचारकों में से एक हैं, इन्होंने अस्तित्ववाद के स्वरूप के बारे में अपनी भूमिका इस प्रकार बतायी है - "चरमबिन्दु स्थिति के नितान्त घातक होने की स्थिति में मानव स्वयं निर्णय कर सकता है कि उसे क्या करना चाहिए और इसीका माध्यम अन्तरानुभूति है। मानव स्वयं को विभिन्न परिस्थितियों में घिरा हुआ संघर्षरत, क्रियाशील पाता है और अन्तरानुभूति से निर्णय लेकर चलता है।"[10] डॉ. मिश्र ने अपने इस विचार में 'अन्तरानुभूति' इस शब्द पर ज़्यादह जोर दिया है। इन्होंने जिस चरमबिन्दु का उल्लेख किया है, पाश्चात्य दार्शनिक जेस्पर्स के अनुसार इस चरमबिन्दु का अर्थ है, "मानवीय जीवन की भय, कष्ट, पीडा, अपराधभावना, संघर्ष, असन्तोष, मृत्यु आदि स्थितियाँ। इसका विस्तार सार्वभौमिक एवं घातक होता है।" [11] ऐसी घातक अवस्था में पलायन न कर मानव जिस निर्णय को लेता है, वही उसकी अन्तरानुभूति कहलाती है।

अपने क्रान्तिकारी विचारधारा के कारण आज अस्तित्ववाद सर्वाधिक चर्चा का विषय बना। क्रान्तिकारी इसीलिए कि इस दर्शन ने मानवजाति की परंपरागत समस्याओं से हटकर जीवन की मूल समस्याओं के बारे में सोचा है। इसकी क्रान्तिकारी विचारों की पृष्ठभूमि पर दो विश्वयुद्ध की विभिषणकारी स्थितियाँ है। युरोप की भूमि पर दो विश्वयुद्ध लडे गये। इस युद्धीय विभीषिका ने मानवजीवन में स्वार्थपरकता, नृशंसता, क्षुद्रता आदि बातों का ऐसा नंगा नाच किया कि मनुष्य का जीवन में कुछ शुभ या मंगल है, इस भावना पर से विश्वास ही उठ गया। सर्वत्र घोर निराशा, भय एवं उदासीनता का वातावरण छा गया। "अतीत और भविष्य को लेकर मानव-जीवन में जो स्वर्णिम कल्पनाएँ होती रहीं, युद्ध के भयंकर परिणामों ने उसकी निस्सारता प्रकट कर दी जिसे न तो धार्मिक अन्धविश्वास रोक पाये और न तो काल्पनिक आश्वासन।"[12]

इस समय के कुछ जागरूक चिंतक ऐसी हालत में जिन्दगी के बारे में नयेपन से सोचने लगे। ऐसे तत्त्वों की वे खोज में थे जिसमें परिवर्तन हो। वर्तमान स्थिति पर भरोसा रखना उचित नहीं था। क्योंकि वह परिवर्तनशील थी। इस परिवर्तनशीलता में दृढ़ता को कायम करना था। जीवन के दृढ़ तत्त्वों की तलाश करते-

करते, दो ऐसे तत्व दिखलाई पडे, जिनमें परिवर्तन की कोई गुँजाईश, संभावना नहीं थी। जन्म और मरण दो स्थिर सत्यों के बीच मानव-जीवन की अस्थिरता उससे आँखमिचौली किया करती है। जन्म के साथ मृत्यु अनिवार्य रूप से लगी रहती है। ये मानव-जीवन की दो ऐसी अवस्थाएँ हैं, जिनमें व्यवधान उपस्थित करना मानवशक्ति के परे है। उसने जन्म लिया है तो उसे मरना अवश्य पडेगा। इन दो अवस्थाओं में से उसे चुनाव भी नहीं करना है। वह स्वयं परतंत्र है, चुनने की उसे स्वतंत्रता नहीं है।मरण-क्षण का उसे तनिक भी ज्ञान नहीं रहता। मृत्यु कब आ धमकेगी, कहा नहीं जा सकता। अतएव, "जन्म और मरण के बीच कोई एक ऐसा अल्पक्षण ही हो सकता है जिसे व्यक्ति अपना अथवा जिन्दगी का क्षण कह सकता है। ऐसी स्थिति में कम से कम समय में ही व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत जीवन को एक अर्थ देकर सार्थक बनाना है। यहीं वह मूल बिन्दु है, जहाँ पहुँचकर व्यक्ति अपने को समाज से अलग रखकर जीने की प्रक्रिया का चिन्तन करने लग जाता है।"[13]

मानवजीवन में मनुष्य जन्म और मृत्यु इन दो अनिवार्य तथ्यों को स्वीकार इस बीच जो समय उसके लिए बचता है उसमें ही वह अपना अस्तित्व स्थापित करनेका प्रयत्न करता है।

हर आदमी अस्तित्व की सुरक्षा के लिए संघर्षशील है। समस्याओं का स्वरूप है- 'मानव का क्या अस्तित्व है ? अगर है तो वह किस प्रकार का ? और उसकी सीमाएँ कहाँ तक है? उत्तर के रूप में विचार आता है कि संसार में हर जीव का, जन्तु का अपना अस्तित्व है, लेकिन इस चिंतनधारा के चिंतनकों का चिंतन सिर्फ मानवमात्र के अस्तित्व से है। मानव अपनी वैयक्तिक स्वतंत्रता तथा विचारधारा को सुरक्षित रखना चाहता है, इसीका परिणाम अस्तित्ववादी विचारधारा का उदय है।

2. अस्तित्ववाद की परिभाषाएँ :-

अस्तित्ववादी विचारधारा को जन्म देनेवाले सर्वप्रथम डेनिश तत्वशास्त्री 'सारेन की कीर्केगार्द' हैं। इन्होंने मानवीय अस्तित्व के वैयक्तिक स्वरूप की व्याख्या इस प्रकार की है-

"अस्तित्व शब्द का उपयोग इस दावे पर जोर देने के लिए किया जाता है कि, प्रत्येक व्यक्ति की ईकाई अपने आपमें स्वयं जैसी (Unique) है और आध्यात्मिक या वैज्ञानिक प्रक्रिया के संदर्भ में अविश्लेषणीय है। वह वह अस्तित्वमय है और चूँकि वह स्वतंत्र है इसीलिए उसके स्वतंत्र चुनाव पर उसका भविष्य कुछ अंशों में उसके स्वतंत्र चुनाव पर निर्भर है। अत: इस संबंध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।"[14]

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार मनुष्य मानवीय ईकाई के रूप में परिस्थितियों के अनुसार स्वयं के लिए कार्यरूपों का चयन करता है। इसके लिए वह पूर्ण स्वतंत्र है।

'एनसायक्लोपिडिया ब्रिटेनिका कोष' के अनुसार कुछ परिभाषाएँ निम्न प्रकार से दी जाती है।

"अस्तित्ववाद एक दार्शनिक स्कूल की बजाय एक प्रवृत्ति या संस्थित भाव है और सभी अस्तित्ववादी विचारकों में कुछ विचार समान है, किन्तु इसे साधारणत: विश्व के मतों और कार्य पद्धतियों के प्रति विरोध कहा जा सकता है जिसके कारण मानव ऐतिहासिक शक्तियों के हाथों असहाय कठपुतली माना जाता है या पूर्णत: प्राकृतिक प्रक्रिया के सतत प्रवाहक्रम द्वारा निश्चित होता है।"[15]

"अस्तित्ववाद दर्शन चिन्तन का वह रास्ता है जो संपूर्ण पार्थिव ज्ञान का उपयोग करता है, उसे इस क्रम में परिवर्धित करता है, जिससे मानव पुन: स्वयं जैसा बन सके।"[16]

फ्रान्स के नास्तिक अस्तित्ववादी ज्यां पाल सार्त्र के अनुसार, "अस्तित्ववाद अनीश्वरीय और अनास्थात्मक सहजीवन परिस्थितियों के परिणामों को प्रस्तुत करने के प्रयास के सिवाय और कुछ नहीं है।"[17]

'The adventurs of Criticism' इस किताब के अनुसार, "साधारणत: अस्तित्ववाद को अन्ध समानीकरण और अशिष्टीकरण की प्रतिक्रिया कहा जा सकता है, जो प्रजातांत्रिक और प्रगतिवादी तत्वों की अतिरेकता के कारण यांत्रिक क्रान्ति के प्रभावों से शरीर और मस्तिष्क का नपुंसकीकरण करते हैं।"[18]

डॉ. श्यामसुन्दर मिश्र के अनुसार, "अस्तित्ववाद अध्नुनातन जीवन के विभिन्न निषेधों (सामाजिक, नैतिक, अर्थिक, राजनीतिक) और वैज्ञानिक उपलब्धियों , यांत्रिकता के बीच आबद्ध व्यक्ति -इकाई की आकुल चिन्ता का वैज्ञानिक और समीचीन विश्लेषण है।"[19]

Kauf Mann के 'Existentialism from Dostavsky to Sartre' इस पुस्तक के अनुसार, "अस्तित्ववाद कोई दर्शन नहीं बल्कि परंपरागत दर्शन के विरूद्ध चलनेवाले विभिन्न आंदोलनों का नाम है। (Existentialism is not a philosophy but a lebel for several widly different revolts against trditional philosophy)"[20]

"अस्तित्ववाद में एक ऐसा जीवन, एक ऐसी गति निहित होती है जो सभी प्रकार के नियमों को तोड़कर प्रवाहमान होती है और अपनी सृजनात्मक क्षमता का विकास करती है।"[21]

"A philosophy of Existence is way of thinking which uses and transends a material knowledge in order that man may again become himself"[22]

अस्तित्ववाद में मनुष्य को भावात्मक जीवन का वर्णन नहीं होता। इसमें मनुष्य को समग्र रूपसे देखा जाता है। अस्तित्ववादी मनुष्य जीवित मनुष्य है। वह क्षण-क्षण में जिंदा रहता है। अस्तित्ववाद इस प्रकार एक विशेष प्रकार के सृजनशील मानवीय दृष्टिकोण को लेकर चलता है।

J.P. Sartre के अनुसार, "Existence preceeds Essence" [23] (अर्थात् मनुष्य की सत्ता को सार से पहले लेना चाहिए। अस्तित्ववाद में क्रिया और विचार दोनों एक दूसरे के पूरक तो अवश्य हैं परन्तु विचार के पूर्व क्रिया की स्थिति है।)

अस्तित्ववाद के प्रथम प्रवर्तक कीर्केगार्द ने अस्तित्ववाद के बारे में अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कहा है - "Life must be understood, backward but it must be lived forward अर्थात् आदमी को चाहिए कि वह ताके पीछे की ओर और चले आगे की ओर।"[24]

कीर्केगार्द के विचार में हमें विरोधाभास मिलता है जो वह समूचे जीवन का सार मानता है। इस विचार को उसने अस्तित्ववाद की पीडावादी दर्शन बना दिया है।"[25]

अस्तित्ववादी चिंताधारा का समर्थक, जर्मन विचारक `हाइडेगर` अस्तित्ववादी दर्शन के बारे में कहते हैं - "जीव अपने परिवेश और परिस्थितियों के यथातथ्य से घिरा हुआ रहता है, दबा हुआ रहता है, किन्तु वह तत्वत: अपने परिवेश और परिस्थितियों से पृथक रहता है।"[26]

इसके अलावा हाइडेगर का और एक स्वतोव्याघात अस्तित्ववाद के बारे में हमें दिखायी देता है वह यह कि, "मानव अस्तित्व सरल रेखाओं से निर्मित होता है क्योंकि उसकी मूल संरचना वर्तुल होती है।"[27]

इस प्रकार हम देखते है कि अस्तित्ववाद के बारे में कोई निश्चित परिभाषा नहीं दी जा सकती।

विविध विचारकों के मत ही हमें मिलते हैं। "अस्तित्ववादियों के अनुसार यह व्यक्तिसापेक्ष विविध सत्य ही मनुष्य को एकरस और रंगीन व्यक्तित्व देता है।"[28]

संक्षिप्त में अस्तित्ववाद का प्रमुख उद्देश है, मानव को अस्तित्व के प्रश्नों से परिचित कराकर उसे अलगाव से मुक्त कराना। आज के जनमानस में अलगाव की भावना गहरी बनती जा रही है। नागरी भीड-भाड में मनुष्य मानवी प्रकृति से दूर भटक रहा है। इस हालत में मनुष्य का भविष्य निराशाजन्य है। अस्तित्ववादी विचारधारा मानवजीन को समझने के लिए तर्क सक्षम कर देती है। इस धारा का आरंभ मनुष्य की विवश या निरूपाय स्थिति से होता है। मानव मुक्ति में इस धारा की अटूट श्रद्धा है।

3. अस्तित्ववाद : एक दृष्टिकोण :-

अस्तित्ववाद का प्रमुख्या उद्देश्य है, मानवको उसके अस्तित्व के प्रश्नों से परिचित कराकर उसको अलगाव से मुक्त कराना।

"सार्त्र ने अलगाव पर द्वंद्वात्मक दृष्टि से सोचा है।"[29] "अलगाव के तीन प्रकार हैं।-(1) अध्यात्मिक(Spritual) (2) मनोवैज्ञानिक (psychological) और (3) सामाजिक अथवा परिवेशगत (Social or environmental) अस्तित्ववादियों का संबंध इन तीन प्रकारों में मनोवैज्ञानिक अलगाव के साथ अधिक है।"[30]

अस्तित्ववाद व्यक्तिगत धर्म का संस्थागत धर्म के प्रति, प्रत्यक्ष अनुभव का अमूर्त बुद्धिविचार के प्रति, व्यक्तिगत चेतना का समूह योजना के प्रति, संपूर्ण अलगाव के प्रति, मानवस्वातंत्र्य का भौतिक नियति के प्रति, दर्शन का विज्ञान के प्रति अनेविध विद्रोह है, जिसे सूत्रात्मक ढंग से विशिष्ट का सामान्य के प्रति विद्रोह कह सकते है। सभी अस्तित्ववादी व्यक्ति स्वतंत्रता स्वीकार करते हैं। मनुष्य स्वतंत्रता के लिए अभिशप्त है। सार्त्र की भाषा में, "I am condemned to be free, says Sartre, no limits to my freedom can be found except freedom itself or that we are not free to cease being free"[31]

डॉ. वाय. बी. घुमाल के अनुसार, "संक्षिप्त में 'अस्तित्व' ही अस्तित्ववाद का केन्द्र है। मानवी अस्तित्व पर आज गंभीरता से सोचना अनिवार्य हो गया है। आज महँगाई, बेरोजगारी स्पर्धा के कारण मनुष्य

अशांत, अतृप्त है और इसी अतृप्ति का कारण अस्तित्ववाद है।"[32]

मानवीय जीवन और मानवीय नियति, उसके जीवन की परिस्थितियों का (स्थितियों का) यथार्थपरक विश्लेषण करना ही अस्तित्ववाद का काम बन गया है।

4. अस्तित्ववाद की प्रवृत्तियाँ :-

अस्तित्ववाद का स्वरूप देखते समय इस चिंतनधारा की कुछ प्रवृत्तियाँ भी हमारे सामने आती हैं, वे निम्नप्रकार की हैं -

अस्तित्व को बनाये रखने के लिए संघर्ष, उदासीनता, 'स्व' के प्रति चेतना, जीवन की मूल समस्याओं के खिलाफ विद्रोह, यांत्रिकीकरण, फासिस्टवाद, समाजवाद और पूँजीवाद का विरोध करना, सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिवेश में अपनी स्थितिगति को देखना, असुरक्षितता, विछिन्नता और अलगाव की मन:स्थिति का अनुभव करना, मानवी समस्याओं पर नये सिरे से सोचना, मानवी संकटबोध एवं उसका तथ्यात्मक विश्लेषण करना, वैयक्तिक प्रतिभा, चिंतनक्षमता और वैचारिक संघर्ष को उठाना, जीवन को सार्थक बनाने का प्रयत्न करना, जीवन के प्रति व्यक्तिपरकदृष्टि रखना, मनुष्य के अस्तित्व का पता लगा देना, मानवी मूल्यों पर जोर देना, समाजवादी, पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति विद्रोह करना, सृजनशील मानवी प्रवृत्ति को सामने रखना, मनुष्य की निराशा पर प्रकाश डालना, जीवन की निरर्थकता को प्रकाश में लाना, अकेलापन अजनबीपन , पीडा, आतंक और संत्रास को प्रस्तुत करना, मृत्युबोध, नगण्यता, निरर्थकता आदि पर प्रकाश डालना, गरीबी, बेकारी, भूखमरी, अशांति, अतृप्ति, आत्मनिर्वासन, विषमता आदि पर चिंतन करना अस्तित्ववादी प्रवृत्तियों का काम है।

"संक्षिप्त में मृत्यु का भय, वरण की स्वतंत्रता, मानवी स्वतंत्रता, रिक्तता, शून्यता, निराशा, पीडा तथा संत्रास, ऊबकाई, भीड में अकेलेपन की अनुभूति, आत्मनिर्वासन की भावना, टूटन, विसंगति और निरर्थकता, क्षण का महत्व या अलगाव आदि के बारे में अस्तित्ववादी चिंतक सोचते है। साठोत्तरी हिन्दी के अस्तित्ववाद से प्रभावित उपन्यासों में इन्ही प्रवृत्तियों पर सोचा गया है।"[33]

5. भारतीय साहित्य और अस्तित्ववादी धारा :-

अस्तित्ववाद ने भारतीय साहित्य को कभी सीधे या कभी अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया है। अस्तित्ववादी दर्शन और अस्तित्ववाद से प्रभावित साहित्य जिन परिस्थितियों में पश्चिम में पैदा हुआ उन परिस्थितियों के बिल्कुल समानंतर परिस्थितियाँ भारतीय परिवेश में उत्पन्न हुई और अस्तित्ववादी साहित्य का निर्माण हुआ। हिरोशिमा और नागासाकी के विध्वंस से हमारे मन में जीवन की क्षणिकता का बोध हुआ। तृतीय महायुद्ध की छाया में जीनेवाले हर संवेदनशील व्यक्ति को जीवन की शून्यता एवं निरर्थकता का अनुभव हो रहा था। आजादी के पश्चात् नागरी जनजीवन की भीडभाडने अकेलापन, सौंदर्यबोध से रहित उद्योगों में या जीवनचर्या में पल-पल पर प्रतीत होनेवाली आत्मनिर्वासन की भावना, विषमता और बेकारी के दुगने जाल में जीने की विवशता से निर्मित संत्रास, घुटन आदि का दु:खद अनुभव आदि बातों ने हमारे भारतीय लेखकों को सोचने के लिए बाध्य किया। जीवन क्या है? जीवन की सार्थकता किसमें है? जीवन में सौंदर्य का स्थान क्या है? बाह्य उपलब्धियों (कीर्ति, धन) का जीवन में क्या स्थान है? मृत्यु क्या है? उससे किस प्रकार मुकाबला किया जाए ? मानवीय संबंधों का आधार कौनसा है? आदि प्रश्नों ने इस संकट की बेला में भारतीय मानस को सोचने के लिए बाध्य किया। इस हालत में भारतीय साहित्य में अस्तित्ववादी धारा नये सिरे से पनपने लगी।

दूसरा कारण भारतीयों का संबंध अंग्रेजी के माध्यम से वैश्विक साहित्य से वर्षों से जुडा था। भारत की परिस्थितियों में वैश्विक साहित्य में निर्मित अस्तित्ववादी साहित्य से हमारे मन में निकटता पैदा करनेवाले अनेक घटक थे। फलत: अस्तित्ववादी साहित्य से हमारे साहित्यकार प्रभावित हुअे और उन्होंने कभी आंतरिक प्रेरणा से तो कभी अस्तित्ववादी साहित्य के अनुकरण से साहित्यरचना की। हमारे भारतीय साहित्यिकों ने अस्तित्ववादको ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं किया।

डॉ. वाय. बी. धुमाल के मतानुसार , "हमारे कई साहित्यिकों के मन में अस्तित्ववाद के बुनियादी सिद्धांतों के प्रति प्रश्नचिन्ह है और भारतीय संस्कृति और भारतीय मानस की विशिष्टता पर आधारित उन्होंने अस्तित्ववाद के द्वारा उठाये गये प्रश्नों पर चिंतन करके उस साहित्य को अभिव्यक्ति दी है।"[34]

समग्र भारतीय साहित्य के साथ-साथ भारत की कई भाषाओं पर भी अस्तित्ववादी चिंतनधारा का प्रभाव पडा है। "दक्षिण भारत की कई भाषाओं के स्वातंत्र्योत्तर कथा साहित्य में अस्तित्ववादी चिंताधारा का स्पष्ट प्रभाव दिखायी पड़ता है।"[35]

"स्वातंत्र्योत्तर मराठी-कथा साहित्य भी अस्तित्व चिन्ताधारा के प्रवेश की दृष्टि से उपेक्षणीय नहीं है। साधारणत: मराठी साहित्य के आलोचनपक्ष या काव्यशास्त्रीय पक्ष को अधिक समृद्ध माना जाता है।"[36]

अन्य भाषाओं के साथ-साथ हमारी राष्ट्रीय भाषा हिन्दी और उसके साहित्य पर भी अस्तित्ववाद का प्रभाव आज भी रहा है।

निष्कर्ष :-

इस प्रकार अस्तित्ववाद का स्वरूप, अस्तित्ववाद की परिभाषाएँ, अस्तित्ववाद का दृष्टिकोन, अस्तित्ववाद की प्रवृत्तियाँ एवं अस्तित्ववाद का भारतीय साहित्य पर पडा प्रभाव आदि बातों का अध्ययन करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि अस्तित्ववाद की निश्चित परिभाषा तो हम नहीं दे सकते क्योंकि अनेक विद्वानों ने अस्तित्ववाद की परिभाषा के बारे में अपने विचार प्रकट किये हैं। स्वरूप के बारे में हम कह सकते हैं कि, वह एक ऐसा दर्शन है, जो भौतिकता के कारण मानवजाति पर आये हुए संकट के प्रति मानव को सजग करने का महत्त्वपूर्ण काम करता है, इस दौरान वह विद्रोही परंपरा को तोडनेवाला, व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं उसकी अनुभूतियों को महत्त्वपूर्ण माननेवाले दर्शन के रूप में हमारे सामने आता है। साथ-ही मृत्यु का भाव, वरण की स्वतंत्रता, रिक्तता, शून्यता, निराशा, पीडा, संत्रास, अजनबीपन, निरर्थकता, टूटन, आत्मनिर्वासन की भावना आदि प्रवृत्तियों को यह विचारधारा लेकर चलती है जिसने सिर्फ भारत को ही नहीं बल्कि समूचे विश्व के साहित्य को प्रभावित किया है।

हिन्दी उपन्यासों में अज्ञेयजीने अस्तित्ववादी समस्याओं को उठाया है, परंतु इन समस्याओं पर भारतीय ढ़ंग से अज्ञेयजी के साथ-साथ डॉ. देवराज, डॉ. माचवे, श्रीलाल शुक्ल, सुरेश सिन्हा, निर्मल वर्मा, रमेश बक्षी, राजकमल चौधरी, महेन्द्र भल्ला, मोहन राकेश आदि उपन्यासकारों ने हिन्दी में अस्तित्ववादी धारा को समझाने और स्थापित करनेका काम किया।

अस्तित्ववाद की उपर्युक्त जानकारी के अनुसार स्पष्ट होता है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणामस्वरप विश्वसाहित्य तथा खासकर पश्चिम में अस्तित्ववाद का जन्म हुआ। पाश्चात्य साहित्य का यह प्रभाव भारत की प्रमुख भाषाएँ और खास तौर पर हिन्दी उपन्यास साहित्य पर पडे बिना नहीं रह सकता। हिन्दी उपन्यास साहित्य ने भारत में अस्तित्ववादी विचारों को प्रबल बनाने का स्तुत्य प्रयत्न शुरू किया है। दु:ख, अलगाव, संत्रास, मृत्यु, ईश्वर, स्वतंत्रता, निरर्थकता, अजनबीपन आदि तत्वों ने हिन्दी उपन्यासों में प्रतिष्ठा प्राप्त करना शुरू किया है।

: संदर्भ सूची :

1. डॉ. यादवराव बाबुराव धुमाल - साठोत्तरी हिन्दी और मराठी के सामाजिक उपन्यासों का प्रवृत्तिमूलक तुलनात्मक अध्ययन, अन्नपूर्णा प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. 1997, पृ. 268-269
2. डॉ. श्यामसुन्दर मिश्र, - अस्तित्ववाद और साहित्य, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, सं. 1984, पृ.7
3. वही, पृ. 7
4. वही, पृ. 8
5. वही, पृ. 7
6. डॉ. सुमित्रा त्यागी - स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य में जीवनदर्शन, साहित्य-प्रकाशन, पटना,सं. 1978, पृ. 212
7. वही, पृ. 213
8. वही, पृ. 213
9. वही, पृ. 213
10. डॉ. रमेश शास्त्री - हिन्दी साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ, देवनागर प्रकाशन, जयपुर, सं. 1979, पृ. 142
11. वही, पृ. 143
12. डॉ. त्रिभुवन सिंह - हिन्दी उपन्यास : शिल्प और प्रयोग, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, सं. 1973, पृ. 216
13. वही, पृ. 216
14. डॉ. श्यामसुन्दर मिश्र - अस्तित्ववाद और साहित्य, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, सं. 1984, पृ. 19
15. वही, पृ. 19
16. वही, पृ. 19
17. वही, पृ. 19
18. वही, पृ. 19
19. वही, पृ. 19
20. डॉ. त्रिभुवन सिंह - हिन्दी उपन्यास : शिल्प और प्रयोग, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, सं. 1973, पृ. 220
21. डॉ. यादवराव बाबुराव धुमाल - साठोत्तरी हिन्दी और मराठी के सामाजिक उपन्यासों का प्रवृत्तिमूलक तुलनात्मक अध्ययन, अन्नपूर्णा प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. 1997, पृ. 268

22. डॉ. यादवराव बाबुराव धुमाल - साठोत्तरी हिन्दी और मराठी के सामाजिक उपन्यासों का प्रवृत्तिमूलक तुलनात्मक अध्ययन, अन्नपूर्णा प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. 1997, पृ. 269

23. वही, पृ. 269

24. डॉ. शुकदेव सिंह - प्रेमचन्दोत्तर कथा-साहित्य में अस्तित्ववाद, अनुपम प्रकाशन, पटना, सं. 1982, पृ. 42

25. वही, पृ. 43

26. वही, पृ. 49

27. वही, पृ. 50

28. वही, पृ. 53

29. वही, पृ. 88

30. वही, पृ. 88

31. J.P. Sartre - Being and Nothingness, New York, P. 441

32. डॉ. यादवराव बाबुराव धुमाल - साठोत्तरी हिन्दी और मराठी के सामाजिक उपन्यासों का प्रवृत्तिमूलक तुलनात्मक अध्ययन, अन्नपूर्णा प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. 1997, पृ. 270

33. वही, पृ. 270

34. वही, पृ. 272

35. डॉ. शुकदेव सिंह - प्रेमचन्दोत्तर कथा-साहित्य में अस्तित्ववाद, अनुपम प्रकाशन, पटना, सं. 1982, पृ. 123

36. वही, पृ. 125

****